॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः
(छठा अध्याय)

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—

शब्द	अर्थ
कर्मफलम्	=कर्मफलका
अनाश्रितः	=आश्रय न लेकर
यः	=जो
कार्यम्	=कर्तव्य
कर्म	=कर्म
करोति	=करता है,
सः	=वही
सन्न्यासी	=संन्यासी
च	=तथा
योगी	=योगी है
च	=और
निरग्निः	=(केवल) अग्निका त्याग करनेवाला
न	=(संन्यासी) नहीं होता
च	= तथा
अक्रियः	=(केवल) क्रियाओंका त्याग करनेवाला
न	=(योगी) नहीं होता।

विशेष भाव—चींटीसे लेकर ब्रह्मलोकतक सम्पूर्ण संसार कर्मफल है। संसारका स्वरूप है—वस्तु, व्यक्ति और क्रिया। वस्तुमात्रकी प्राप्ति और अप्राप्ति होती है, व्यक्तिमात्रका संयोग और वियोग होता है तथा क्रियामात्रका आरम्भ और अन्त होता है। जो वस्तु, व्यक्ति और क्रिया—तीनोंके आश्रयका त्याग करके प्राप्त कर्तव्यका पालन करता है, वही सच्चा संन्यासी तथा योगी है। जो कर्मफलका त्याग न करके केवल अग्निका त्याग करता है, वह सच्चा संन्यासी नहीं है और जो केवल क्रियाओंका त्याग करता है, वह सच्चा योगी नहीं है। कारण कि मनुष्य कर्मफलसे बँधता है, अग्निसे अथवा क्रियाओंसे नहीं।

तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने दो निष्ठाएँ बतायी थीं—सांख्यनिष्ठा (सांख्ययोग) और योगनिष्ठा (कर्मयोग)। फिर पाँचवें अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनोंको एक फलवाला बताया। अब यहाँ भगवान् उसी भावको लेकर कहते हैं कि जिसने कर्मफलका त्याग कर दिया है, वही सच्चा सांख्ययोगी और कर्मयोगी है। तात्पर्य है कि चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेमात्रसे कोई योगी नहीं होता। योगी तभी होता है, जब वह कर्मफलका त्याग कर देता है। कारण कि जबतक कर्मफलकी चाहना है, तबतक वृत्तिनिरोध करनेसे सिद्धियोंकी प्राप्ति तो हो सकती है, पर कल्याण नहीं हो सकता।

~~~

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥ २ ॥

शब्द	अर्थ
पाण्डव	= हे अर्जुन!
यम्	=(लोग) जिसको
सन्न्यासम्	=संन्यास—
इति	=ऐसा
प्राहुः	=कहते हैं,
तम्	=उसीको (तुम)

ऑपरेटर-सेटिंग : रवीश शुक्ल
फोल्डर : रवीश शुक्ल, फाईल : साधक-संजीवनी-६
प्रिन्ट : रवीश शुक्ल
पुस्तकका नाम : साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
प्रूफ कापी : पहला
पढ़नेवालेका स्पष्ट हस्ताक्षर/दिनांक...
~~~

योगम्	=योग	**असन्न्यस्तसङ्कल्पः**	=संकल्पोंका त्याग किये बिना (मनुष्य)	**योगी**	=योगी
विद्धि	=समझो;			**न**	=नहीं
हि	=क्योंकि	**कश्चन**	=कोई-सा (भी)	**भवति**	=हो सकता ।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥

योगम्	=जो योग (समता) में		योगीके लिये	**योगारूढस्य**	=योगारूढ़ मनुष्यका
आरुरुक्षोः	=आरूढ़ होना चाहता है, (ऐसे)	**कर्म**	=कर्तव्यकर्म करना	**शमः**	=शम (शान्ति)
		कारणम्	=कारण		
		उच्यते	=कहा गया है (और)	**कारणम्**	=(परमात्मप्राप्तिमें) कारण
मुनेः	=मननशील	**तस्य, एव**	=उसी	**उच्यते**	=कहा गया है।

विशेष भाव—योगारूढ़ होनेकी इच्छावाले साधकके लिये योगारूढ़ होनेमें निष्काम भावसे कर्म करना कारण है और उससे प्राप्त होनेवाली शान्ति परमात्मप्राप्तिमें कारण है। तात्पर्य है कि परमात्मप्राप्तिमें कर्म कारण नहीं हैं, प्रत्युत कर्मोंके सम्बन्ध-विच्छेदसे होनेवाली शान्ति कारण है। यह शान्ति साधन है, सिद्धि नहीं।

विवेकपूर्वक कर्म करनेसे ही कर्मोंका राग (वेग) मिटता है; क्योंकि राग मिटानेकी शक्ति कर्ममें नहीं है, प्रत्युत विवेकमें है। जिसकी योगारूढ़ होनेकी लालसा है, वह सब कर्म विवेकपूर्वक ही करता है। विवेक तब विकसित होता है, जब साधक कामनाकी पूर्तिमें परतन्त्रताका और अपूर्तिमें अभावका अनुभव करता है। परतन्त्रता और अभावको कोई नहीं चाहता, जबकि कामना करनेसे ये दोनों ही नहीं छूटते।

योगारूढ़ अवस्थामें राजी नहीं होना है; क्योंकि राजी होनेसे साधक वहीं अटक जायगा, जिससे परमात्मप्राप्ति होनेमें बहुत समय लग जायगा (गीता १४। ६)। जैसे, पहले बालककी खेलमें रुचि रहती है। परन्तु बड़े होनेपर जब उसकी रुचि रुपयोंमें हो जाती है, तब खेलकी रुचि अपने-आप मिट जाती है। ऐसे ही जबतक परमात्मप्राप्तिका अनुभव नहीं हुआ है, तबतक उस शान्तिमें रुचि रहती है अर्थात् शान्ति बहुत बढ़िया मालूम देती है। परन्तु उस शान्तिका उपभोग न किया जाय, उससे उपराम हो जायँ तो उसकी रुचि अपने-आप मिट जाती है और बहुत जल्दी परमात्मप्राप्तिका अनुभव हो जाता है।

योगारूढ़ होनेमें कर्म करना कारण है अर्थात् नि:स्वार्थभावसे दूसरोंके हितके लिये कर्म करते-करते जब सबका वियोग हो जाता है, तब साधक योगारूढ़ हो जाता है। कर्मोंकी समाप्ति हो जाती है और योग नित्य रहता है।

कर्मी (भोगी) भी कर्म करता है और कर्मयोगी भी कर्म करता है, पर उन दोनोंके उद्देश्यमें बड़ा भारी अन्तर रहता है। एक आसक्ति रखनेके लिये अथवा कामनापूर्तिके लिये कर्म करता है और एक आसक्तिका त्याग करनेके लिये कर्म करता है। भोगी अपने लिये कर्म करता है और कर्मयोगी दूसरोंके लिये कर्म करता है। अत: आसक्तिपूर्वक कर्म करनेमें समान होनेपर भी जो आसक्ति-त्यागके उद्देश्यसे दूसरोंके लिये कर्म करता है, वह योगी (योगारूढ़) हो जाता है। कर्म करनेसे ही योगीकी पहचान होती है, अन्यथा '**वृद्धा नारी पतिव्रता**'!

यहाँ जिसको 'शम' (शान्ति) कहा गया है, उसीको दूसरे अध्यायके चौंसठवें श्लोकमें 'प्रसाद' (अन्त:करणकी प्रसन्नता) कहा गया है। इस शान्तिमें रमण न करनेसे 'निर्वाणपरमा शान्ति' की प्राप्ति होती है (गीता ६। १५)। त्यागसे शान्ति मिलती है (गीता १२। १२)। शान्तिमें रमण न करनेसे अखण्डरस (तत्त्वज्ञान) मिलता है और अखण्डरसमें भी सन्तोष न करनेसे अनन्तरस (परमप्रेम) मिलता है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ ४॥

हि	=कारण कि	**न**	=न	**सर्वसङ्कल्प-**	
यदा	=जिस समय	**कर्मसु**	=कर्मोंमें (ही)	**सन्न्यासी**	=सम्पूर्ण संकल्पोंका त्यागी मनुष्य
न	=न	**अनुषज्जते**	=आसक्त होता है,		
इन्द्रियार्थेषु	=इन्द्रियोंके भोगोंमें (तथा)	**तदा**	=उस समय (वह)	**योगारूढः**	=योगारूढ़
				उच्यते	=कहा जाता है।

विशेष भाव—योगारूढ़की पहचान क्या है ? इसके लिये यहाँ तीन बातें बतायी हैं—पदार्थों (वस्तुओं तथा व्यक्तियों)में आसक्ति न होना, क्रियाओंमें आसक्ति न होना और सम्पूर्ण संकल्पोंका अर्थात् मनचाहीका त्याग होना। तात्पर्य है कि इन्द्रियोंके भोगोंमें और क्रियाओंमें आसक्ति न हो तथा भीतरसे यह आग्रह भी न हो कि ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये। जिसकी न तो पदार्थोंमें आसक्ति है और न पदार्थोंके अभावमें आसक्ति है; न क्रियाओंमें आसक्ति है और न क्रियाओंके अभावमें आसक्ति है तथा न कोई संकल्प है, वह 'योगारूढ़' है। तात्पर्य है कि पदार्थ मिले या न मिले, व्यक्ति मिले या न मिले, क्रिया हो या न हो—इसका कोई आग्रह नहीं होना चाहिये (गीता ३। १८)।

साधकको विचार करना चाहिये कि ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सदा हमारे पास रहेगी और हम सदा उसके पास रहेंगे ? ऐसा कौन-सा व्यक्ति है, जो सदा हमारे साथ रहेगा और हम सदा उसके साथ रहेंगे? ऐसी कौन-सी क्रिया है, जिसको हम सदा करते रहेंगे और जो सदा हमसे होती रहेगी ? सदाके लिये हमारे साथ न कोई वस्तु रहेगी, न कोई व्यक्ति रहेगा और न कोई क्रिया रहेगी। एक दिन हमें वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे रहित होना ही पड़ेगा। अगर हम वर्तमानमें ही उनके वियोगको स्वीकार कर लें, उनसे असंग हो जायँ तो जीवन्मुक्ति स्वतः सिद्ध है। तात्पर्य है कि वस्तु, व्यक्ति और क्रियाका संयोग तो अनित्य है, पर वियोग नित्य है। नित्यको स्वीकार करनेसे नित्य-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है और कोई अभाव शेष नहीं रहता।

इन्द्रियोंके भोगोंमें और कर्मोंमें आसक्ति न होनेका अर्थ है—कामनारहित और कर्तृत्वरहित होना। इन्द्रियोंके भोगोंमें, पदार्थोंमें आसक्ति न हो तो साधक कामनारहित हो जाता है और क्रियाओंमें आसक्ति न हो तो कर्तृत्वरहित हो जाता है। कामनारहित और कर्तृत्वरहित होनेपर स्वरूपमें स्वतः स्थिति हो जाती है। वास्तवमें स्थिति होती नहीं, प्रत्युत स्थिति है; परन्तु कामनारहित और कर्तृत्वरहित न होनेसे इसका अनुभव नहीं होता। कामना और कर्तृत्वका अभाव होनेपर स्वरूपमें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है।

जैसे लिखनेके समय लेखनीको काममें लेते हैं और लिखना पूरा होते ही लेखनीको ज्यों-का-त्यों रख देते हैं, ऐसे ही साधक कार्य करते समय शरीरको काममें ले और कार्य पूरा होते ही उसको ज्यों-का-त्यों रख दे अर्थात् उससे असंग हो जाय तो प्रत्येक क्रियाके बाद उसकी योग (समता)में स्थिति होगी। अगर क्रियासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय तो वह योगारूढ़ हो जायगा।

क्रिया (भोग) और पदार्थ (ऐश्वर्य) की आसक्तिसे पतन होता है (गीता २। ४४)। इसलिये न तो क्रियामें आसक्ति हो और न फलमें ही आसक्ति हो (गीता २। ४७; ५। १२)। संकल्पजन्य सुखका भोग भी न हो अर्थात् संकल्पपूर्तिका सुख भी न ले। अपनी मुक्तिका भी संकल्प न हो; क्योंकि मुक्तिके संकल्पसे बन्धनकी सत्ता दृढ़ होती है। अतः कोई भी संकल्प न रखकर उदासीन रहे।

ऑपरेटर-सेटिंग : रवीश शुक्ल
फोल्डर : रवीश शुक्ल, फाईल : साधक-संजीवनी-६
प्रिन्ट : रवीश शुक्ल
पुस्तकका नाम : साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
प्रूफ कापी : पहला
पढ़नेवालेका स्पष्ट हस्ताक्षर/दिनांक...

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ५॥

आत्मना	= अपने द्वारा	**हि**	= क्योंकि		(और)
आत्मानम्	= अपना	**आत्मा**	= आप	**आत्मा**	= आप
उद्धरेत्	= उद्धार करे,	**एव**	= ही	**एव**	= ही
आत्मानम्	= अपना	**आत्मनः**	= अपना	**आत्मनः**	= अपना
न, अवसादयेत्	= पतन न करे;	**बन्धुः**	= मित्र है	**रिपुः**	= शत्रु है।

विशेष भाव— अपने उद्धार और पतनमें मनुष्य स्वयं ही कारण होता है, दूसरा कोई नहीं। भगवान्‌ने मनुष्यशरीर दिया है तो अपने कल्याणकी सामग्री भी पूरी दी है। इसलिये अपने कल्याणके लिये दूसरेकी जरूरत नहीं है। पतन भी दूसरा नहीं करता। जीव खुद ही गुणोंका संग करके जन्म-मरणमें पड़ता है (गीता १३। २१)।

गुरु, सन्त और भगवान् भी तभी उद्धार करते हैं, जब मनुष्य स्वयं उनपर श्रद्धा-विश्वास करता है, उनको स्वीकार करता है, उनके सम्मुख होता है, उनके शरण होता है, उनकी आज्ञाका पालन करता है। अगर मनुष्य उनको स्वीकार न करे तो वे कैसे उद्धार करेंगे? नहीं कर सकते। खुद शिष्य न बने तो गुरु क्या करेगा? जैसे, दूसरा व्यक्ति भोजन तो दे देगा, पर भूख खुदकी चाहिये। खुदकी भूख न हो तो दूसरेके द्वारा दिया गया भोजन किस कामका? ऐसे ही खुदकी लगन न हो तो गुरुका, सन्त-महात्माओंका उपदेश किस कामका?

गुरु, सन्त और भगवान्‌का कभी अभाव नहीं होता। अनेक बड़े-बड़े सन्त होते आये हैं, गुरु होते आये हैं, भगवान्‌के अवतार होते आये हैं, पर अभीतक हमारा उद्धार नहीं हुआ है तो इससे सिद्ध होता है कि हमने ही उनको स्वीकार नहीं किया। अतः अपने उद्धार और पतनमें हम ही हेतु हैं। जो अपने उद्धार और पतनमें दूसरेको हेतु मानता है, उसका उद्धार कभी हो ही नहीं सकता।

वास्तविक दृष्टिसे देखें तो भगवान् भी विद्यमान हैं, गुरु भी विद्यमान है, तत्त्वज्ञान भी विद्यमान है और अपनेमें योग्यता, सामर्थ्य भी विद्यमान है। केवल नाशवान् सुखकी आसक्तिसे ही उनके प्रकट होनेमें बाधा लग रही है। नाशवान् सुखकी आसक्ति मिटानेकी जिम्मेवारी साधकपर है; क्योंकि उसीने आसक्ति की है।

गुरु बनना या बनाना गीताका सिद्धान्त नहीं है। मनुष्य आप ही अपना गुरु है। इसलिये उपदेश अपनेको ही देना है। जब सब कुछ परमात्मा ही हैं (**वासुदेवः सर्वम्**), तो फिर दूसरा गुरु कैसे बने और कौन किसको उपदेश दे ? अतः '**उद्धरेदात्मनात्मानम्**' का तात्पर्य है कि दूसरेमें कमी न देखकर अपनेमें ही कमी देखे और उसको दूर करनेकी चेष्टा करे, अपनेको ही उपदेश दे। आप ही अपना गुरु बने, आप ही अपना नेता बने और आप ही अपना शासक बने।

~~~

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ६॥

येन	= जिसने	**एव**	= ही		है, ऐसे अनात्माका
आत्मना	= अपने-आपसे	**आत्मनः**	= अपना	**आत्मा**	= आत्मा
आत्मा	= अपने-आपको	**बन्धुः**	= बन्धु है	**एव**	= ही
जितः	= जीत लिया है,	**तु**	= और	**शत्रुत्वे**	= शत्रुतामें
तस्य	= उसके लिये	**अनात्मनः**	= जिसने अपने-आपको नहीं जीता	**शत्रुवत्**	= शत्रुकी तरह
आत्मा	= आप			**वर्तेत**	= बर्ताव करता है।
~~~

विशेष भाव—शरीरमें मैं-मेरापन न रहे तो आप ही अपना मित्र है और शरीरको मैं-मेरा माने तो आप ही अपने शत्रुकी तरह है अर्थात् अनात्माको सत्ता देनेसे उसका परिणाम शत्रुकी तरह ही होगा।

'शत्रुवत्'—जो नुकसान शत्रु करता है, वही नुकसान वह खुद अपना करता है। वास्तवमें भोगी मनुष्य अपना जितना नुकसान करता है, उतना शत्रु भी नहीं कर सकता। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो शत्रुके द्वारा हमारा भला ही होता है। वह हमारा बुरा कर ही नहीं सकता। कारण कि वह वस्तुओंतक ही पहुँचता है, स्वयंतक पहुँचता ही नहीं । अतः नाशवान्‌के नाशके सिवाय और वह कर ही क्या सकता है? नाशवान्‌के नाशसे हमारा भला ही होगा। वास्तवमें हमारा नुकसान हमारा भाव बिगड़नेसे ही होता है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

जितात्मनः =जिसने अपने-आपपर विजय कर ली है, उस
शीतोष्णसुख-
दुःखेषु =शीत-उष्ण (अनुकूलता-प्रतिकूलता), सुख-दुःख
तथा =तथा
मानापमानयोः = मान-अपमानमें
प्रशान्तस्य = निर्विकार मनुष्यको
परमात्मा = परमात्मा
समाहितः = नित्यप्राप्त हैं।

विशेष भाव—जिसकी आत्मा मित्रकी तरह है अर्थात् जिसका शरीरमें मैं-पन और मेरा-पन नहीं है, वह अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख और मान-अपमान प्राप्त होनेपर भी सम, निर्विकार रहता है। ऐसा मनुष्य सिद्ध कर्मयोगी है अर्थात् उसको परमात्माका अनुभव हो चुका है—ऐसा मानना चाहिये। कारण कि अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख और मान-अपमान तो आते-जाते हैं, पर परमात्मतत्त्व ज्यों-का-त्यों रहता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ८॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा = जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है,
कूटस्थः =जो कूटकी तरह निर्विकार है,
विजितेन्द्रियः =जितेन्द्रिय है (और)
समलोष्टाश्मकाञ्चनः=मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा स्वर्णमें समबुद्धि-वाला है—
इति =ऐसा
योगी =योगी
युक्तः =युक्त (योगारूढ़)
उच्यते =कहा जाता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ९॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थ-
द्वेष्यबन्धुषु =सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और सम्बन्धियोंमें
च =तथा
साधुषु =साधु-आचरण करनेवालोंमें (और)
पापेषु =पाप-आचरण करनेवालोंमें
अपि =भी
समबुद्धिः =समबुद्धिवाला मनुष्य
विशिष्यते =श्रेष्ठ है।

विशेष भाव—समताका विभाग अलग है और विषमताका विभाग अलग है। परमात्मतत्त्व सम है और संसार विषम है। सिद्ध कर्मयोगीकी विषम व्यवहारमें भी समबुद्धि रहती है। बर्ताव करनेमें जिनसे कभी एकता नहीं हो सकती, एकता करनी भी नहीं चाहिये और एकता कर भी नहीं सकते, उन मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा स्वर्णमें और सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, साधु तथा पापी व्यक्तियोंमें भी उसकी समबुद्धि रहती है। कारण कि उसको 'एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है'—ऐसा अनुभव हो गया है।

एक सोनेसे बनी हुई विष्णुभगवान्‌की मूर्ति हो और एक सोनेसे बनी हुई कुत्तेकी मूर्ति हो तो तौलमें बराबर होनेके कारण दोनोंका मूल्य समान होगा। विष्णुभगवान् सर्वश्रेष्ठ एवं परमपूज्य हैं और कुत्ता नीच (अस्पृश्य) एवं अपूज्य है— इस तरह बाहरी रूपको देखें तो दोनोंमें बड़ा भारी फर्क है, पर सोनेको देखें तो दोनोंमें कोई फर्क नहीं! इसी तरह संसारमें कोई मित्र है, कोई शत्रु है; कोई महात्मा है, कोई दुरात्मा है; कोई अच्छा है, कोई मन्दा है; कोई सज्जन है, कोई दुष्ट है; कोई सदाचारी है, कोई दुराचारी है; कोई धर्मात्मा है, कोई पापी है; कोई विद्वान् है, कोई मूर्ख है—यह सब तो बाहरी दृष्टिसे है, पर तत्त्वसे देखें तो सब-के-सब एक भगवान् ही हैं। एक भगवान् ही अनन्त रूपोंमें प्रकट हुए हैं। जानकार मुनष्य उनको पहचान लेता है,दूसरा नहीं पहचान सकता।

स्नान करते समय शरीरमें साबुन लगाकर दर्पणमें देखे तो शरीर बहुत बुरा, भद्दा दीखेगा। कहीं फफोले दीखेंगे, कहीं लकीरें दीखेंगी। परन्तु ऐसा दीखनेपर भी मनमें दुःख नहीं होगा कि कैसी बीमारी हो गयी! कारण कि भीतर यह भाव रहता है कि यह तो ऊपरसे ऐसा दीखता है, जल डालते ही साफ हो जायगा। ऐसे ही सब परमात्माके स्वरूप हैं, पर ऊपरसे शरीरोंमें उनका अलग-अलग स्वभाव दीखता है। वास्तवमें ऊपरसे दीखनेवाले भी परमात्माके ही स्वरूप हैं, पर अपने राग-द्वेषके कारण वे अलग-अलग दीखते हैं।

जो बात पाँचवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें '**कर्मयोगो विशिष्यते**' पदोंसे कही थी, वही बात यहाँ '**समबुद्धिर्विशिष्यते**' पदोंसे कही है। समबुद्धिवाला मनुष्य निर्लिप्त रहता है। निर्लिप्त रहनेसे 'योग' होता है, लिप्तता होते ही 'भोग' हो जाता है। समबुद्धि तीनों योगोंमें है, पर कर्मयोगमें विशेष है; क्योंकि भौतिक साधना होनेसे कर्मयोगीके सामने विषमता ज्यादा आती है।

~~~

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १०॥

अपरिग्रहः	= भोगबुद्धिसे संग्रह न करनेवाला,		तथा शरीरको वशमें रखनेवाला	**स्थितः**	= स्थित होकर
निराशीः	= इच्छारहित (और)	**योगी**	= योगी	**आत्मानम्**	= मनको
यतचित्तात्मा	= अन्तःकरण	**एकाकी**	= अकेला	**सततम्**	= निरन्तर
		रहसि	= एकान्तमें	**युञ्जीत**	= (परमात्मामें) लगाये।

विशेष भाव—कर्मयोग*, ज्ञानयोग और भक्तियोग तो करणनिरपेक्ष साधन हैं, पर ध्यानयोग करणसापेक्ष साधन है। अब भगवान् ध्यानयोगका वर्णन आरम्भ करते हैं।

~~~

* कर्मयोगमें 'कर्म' तो करणसापेक्ष है, पर 'योग' करणनिरपेक्ष है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११॥

शुचौ = शुद्ध
देशे = भूमिपर,
चैलाजिन-कुशोत्तरम् = (जिसपर क्रमशः) कुश, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं,
न = (जो) न
अत्युच्छ्रितम् = अत्यन्त ऊँचा है (और)
न = न
अतिनीचम् = अत्यन्त नीचा, (ऐसे)
आत्मनः = अपने
आसनम् = आसनको
स्थिरम् = स्थिर
प्रतिष्ठाप्य = स्थापन करके।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ १२॥

तत्र = उस
आसने = आसनपर
उपविश्य = बैठकर
यतचित्तेन्द्रियक्रियः = चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए।
मनः = मनको
एकाग्रम् = एकाग्र
कृत्वा = करके
आत्मविशुद्धये = अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये
योगम् = योगका
युञ्ज्यात् = अभ्यास करे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३॥

कायशिरोग्रीवम् = काया, सिर और गलेको
समम् = सीधे
अचलम् = अचल
धारयन् = धारण करके
च = तथा
दिशः = दिशाओंको
अनवलोकयन् = न देखकर (केवल)
स्वम् = अपनी
नासिकाग्रम् = नासिकाके अग्रभागको
सम्प्रेक्ष्य = देखते हुए
स्थिरः = स्थिर होकर (बैठे)।

विशेष भाव—यहाँ नासिकाके अग्रभागको देखना मुख्य नहीं है, प्रत्युत मनको एकाग्र करना मुख्य है।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४॥

प्रशान्तात्मा = जिसका अन्तः-करण शान्त है,
विगतभीः = जो भयरहित है (और)
ब्रह्मचारिव्रते = जो ब्रह्मचारिव्रतमें
स्थितः = स्थित है, (ऐसा)
युक्तः = सावधान ध्यानयोगी
मनः = मनका
संयम्य = संयम करके
मच्चित्तः = मेरेमें चित्त लगाता हुआ
मत्परः = मेरे परायण होकर
आसीत = बैठे।

विशेष भाव— अपनी विशेषता माननेसे आसुरी सम्पत्ति आ जाती है। इसलिये भगवान्‌ने '**मत्परः**' पदसे ध्यानयोगीके लिये भी अपने परायण होनेकी बात कही है। भगवत्परायणतामें भगवान्‌का बल रहनेसे विकार शीघ्र

दूर हो जाते हैं और अभिमान भी नहीं होता। यह भक्तिकी विशेषता है।

इस श्लोकमें **'मन'** और **'चित्त'**—ये दो समानार्थक पद आये हैं। 'मन' से किसी वस्तुका बार-बार मनन किया जाता है और 'चित्त' से किसी एक ही वस्तुका चिन्तन किया जाता है। अत: यहाँ आये **'मनः संयम्य मच्चित्तः'** पदोंका तात्पर्य है कि संसारका मनन नहीं करे अर्थात् मनको संसारसे हटा ले और चित्तसे केवल भगवान्‌का चिन्तन करे अर्थात् चित्तको केवल भगवान्‌में लगा दे।

~~~

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ १५॥

नियतमानसः	=वशमें किये हुए मनवाला	**सदा**	=सदा	**निर्वाणपरमाम्**	=(जो) निर्वाणपरमा
योगी	=योगी	**युञ्जन्**	=(परमात्मामें) लगाता हुआ	**शान्तिम्**	=शान्ति है, (उसको)
आत्मानम्	=मनको	**मत्संस्थाम्**	=मुझमें सम्यक् स्थितिवाली	**अधिगच्छति**	=प्राप्त हो जाता है।
एवम्	=इस तरहसे				

~~~

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ १६॥

अर्जुन	=हे अर्जुन!	**न**	=न	**च**	=और
योगः	=(यह) योग	**एकान्तम्**	=बिलकुल	**न**	=न
न	=न	**अनश्नतः**	=न खानेवालेका	**जाग्रतः**	=(बिलकुल) न सोनेवालेका
तु	=तो	**च**	=तथा		
अति	=अधिक	**न**	=न	**एव**	=ही
अश्नतः	=खानेवालेका	**अति**	=अधिक	**अस्ति**	=सिद्ध होता है।
च	=और	**स्वप्नशीलस्य**	=सोनेवालेका		

~~~

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ १७॥

दुःखहा	=दुःखोंका नाश करनेवाला		विहार करने-वालेका,		(तथा)
योगः	=योग (तो)	**कर्मसु**	=कर्मोंमें	**युक्तस्वप्नावबोधस्य**	=यथायोग्य सोने और जागने-वालेका (ही)
युक्ताहारविहारस्य	=यथायोग्य आहार और	**युक्तचेष्टस्य**	=यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका	**भवति**	=(सिद्ध) होता है।

विशेष भाव—सोलहवाँ और सत्रहवाँ श्लोक ध्यानयोगीके लिये तो उपयोगी हैं ही, अन्य योगियों (साधकों)के लिये भी बड़े उपयोगी हैं।

~~~

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ १८॥

विनियतम्	=वशमें किया हुआ	**अवतिष्ठते**	=स्थित हो		(हो जाता है),
चित्तम्	=चित्त		जाता है (और)	**तदा**	=उस कालमें
यदा	=जिस कालमें	**सर्वकामेभ्यः**	=(स्वयं) सम्पूर्ण	**युक्तः**	=(वह) योगी है—
आत्मनि	=अपने स्वरूपमें		पदार्थोंसे	**इति**	= ऐसा
एव	=ही	**निःस्पृहः**	=निःस्पृह	**उच्यते**	=कहा जाता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ १९॥

यथा	=जैसे		जाती है,	**योगिनः**	=योगीके
निवातस्थः	=स्पन्दनरहित वायुके	**योगम्**	=योगका	**आत्मनः**	=चित्तकी
	स्थानमें स्थित	**युञ्जतः**	=अभ्यास करते हुए	**सा**	=वैसी ही
दीपः	=दीपककी लौ	**यतचित्तस्य**	=वशमें किये हुए	**उपमा**	=उपमा
न, इङ्गते	=चेष्टारहित हो		चित्तवाले	**स्मृता**	=कही गयी है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ २०॥

योगसेवया	=योगका सेवन	**उपरमते**	=उपराम हो जाता है	**आत्मानम्**	=अपने-आपको
	करनेसे	**च**	=तथा	**पश्यन्**	=देखता हुआ
यत्र	=जिस अवस्थामें	**यत्र**	=जिस अवस्थामें	**आत्मनि**	=अपने-आपमें
निरुद्धम्	=निरुद्ध		(स्वयं)	**एव**	=ही
चित्तम्	=चित्त	**आत्मना**	=अपने-आपसे	**तुष्यति**	=सन्तुष्ट हो जाता है।

विशेष भाव—मन आत्मामें नहीं लगता, प्रत्युत उपराम हो जाता है। कारण कि मनकी जाति अलग है और आत्माकी जाति अलग है। मन अपरा प्रकृति (जड़) है और आत्मा परा प्रकृति (चेतन) है। इसलिये आत्मा ही आत्मामें लगती है—**'आत्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति'।**

अपने-आपमें अपने-आपको देखनेका तात्पर्य है कि आत्मतत्त्व परसंवेद्य नहीं है, प्रत्युत स्वसंवेद्य है। मनसे जो चिन्तन किया जाता है, वह मनके विषय (अनात्मा)का ही चिन्तन होता है, परमात्माका नहीं। बुद्धिसे जो निश्चय किया जाता है, वह बुद्धिके विषयका ही निश्चय होता है, परमात्माका नहीं। वाणीसे जो वर्णन किया जाता है, वह वाणीके विषयका ही वर्णन होता है, परमात्माका नहीं। तात्पर्य है कि मन-बुद्धि-वाणीसे प्रकृतिके कार्य (अनात्मा)का ही चिन्तन, निश्चय तथा वर्णन किया जाता है। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति मन-बुद्धि-वाणीसे सर्वथा विमुख (सम्बन्ध-विच्छेद) होनेपर ही होती है*।

यहाँ जिस तत्त्वकी प्राप्ति ध्यानयोगसे बतायी गयी है, उसी तत्त्वकी प्राप्ति दूसरे अध्यायके पचपनवें श्लोकमें

* यदि एक परमात्मप्राप्तिका ही ध्येय हो तो मन-बुद्धि-वाणीसे चिन्तन, निश्चय तथा वर्णन करना भी अनुचित नहीं है, प्रत्युत वह भी साधनरूप हो जाता है। परन्तु साधक उसमें ही सन्तोष कर ले, पूर्णता मान ले तो वह बाधक हो जाता है।

कर्मयोगसे भी बतायी गयी है। अन्तर इतना है कि ध्यानयोग तो करणसापेक्ष साधन है, पर कर्मयोग करणनिरपेक्ष साधन है। करणसापेक्ष साधनमें जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद देरीसे होता है और इसमें योगभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ २१॥

यत्	=जो	**तत्**	=उस सुखका	**अयम्**	=यह ध्यानयोगी
सुखम्	=सुख	**यत्र**	=जिस अवस्थामें	**तत्त्वतः**	=तत्त्वसे
आत्यन्तिकम्	=आत्यन्तिक,	**वेत्ति**	=अनुभव करता है	**एव**	=फिर (कभी)
अतीन्द्रियम्	=अतीन्द्रिय (और)	**च**	=और (जिस सुखमें)	**न, चलति**	=विचलित नहीं
बुद्धिग्राह्यम्	=बुद्धिग्राह्य है,	**स्थितः**	=स्थित हुआ		होता।

विशेष भाव—स्वरूपका अनुभव होनेपर ध्यानयोगीको उस अविनाशी, अखण्ड सुखकी अनुभूति हो जाती है, जो 'आत्यन्तिक' अर्थात् सात्त्विक सुखसे विलक्षण, 'अतीन्द्रिय' अर्थात् राजस सुखसे विलक्षण और 'बुद्धिग्राह्य' अर्थात् तामस सुखसे विलक्षण है।

अविनाशी सुखको 'बुद्धिग्राह्य' कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि वह बुद्धिकी पकड़में आनेवाला है। कारण कि बुद्धि तो प्रकृतिका कार्य है, फिर वह प्रकृतिसे अतीत सुखको कैसे पकड़ सकती है? इसलिये अविनाशी सुखको बुद्धिग्राह्य कहनेका तात्पर्य उस सुखको तामस सुखसे विलक्षण बतानेमें ही है। निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होनेवाला सुख तामस होता है (गीता १८। ३९)। गाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) में बुद्धि अविद्यामें लीन हो जाती है और आलस्य तथा प्रमादमें बुद्धि पूरी तरह जाग्रत् नहीं रहती। परन्तु स्वतःसिद्ध अविनाशी सुखमें बुद्धि अविद्यामें लीन नहीं होती, प्रत्युत पूरी तरह जाग्रत् रहती है—'**ज्ञानदीपिते**' (गीता ४। २७)। अतः बुद्धिकी जागृतिकी दृष्टिसे ही उसको 'बुद्धिग्राह्य' कहा गया है। वास्तवमें बुद्धि वहाँतक पहुँचती ही नहीं।

जैसे दर्पणमें सूर्य नहीं आता, प्रत्युत सूर्यका बिम्ब आता है, ऐसे ही बुद्धिमें वह अविनाशी सुख नहीं आता, प्रत्युत उस सुखका बिम्ब, आभास आता है, इसलिये भी उसको '**बुद्धिग्राह्य**' कहा गया है।

तात्पर्य यह हुआ कि स्वयंका अखण्ड सुख सात्त्विक, राजस और तामस सुखसे भी अत्यन्त विलक्षण अर्थात् गुणातीत है। उसको बुद्धिग्राह्य कहनेपर भी वास्तवमें वह बुद्धिसे सर्वथा अतीत है।

बुद्धियुक्त (प्रकृतिसे मिला हुआ) चेतन ही बुद्धिग्राह्य है, शुद्ध चेतन नहीं। वास्तवमें स्वयं प्रकृतिसे मिल सकता ही नहीं, पर वह अपनेको मिला हुआ मान लेता है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ २२॥

यम्	=जिस		(लाभ)		(वह)
लाभम्	=लाभकी	**न, मन्यते**	=(उसके) माननेमें	**गुरुणा**	=बड़े भारी
लब्ध्वा	= प्राप्ति होनेपर		भी नहीं आता	**दुःखेन**	=दुःखसे
ततः	=उससे	**च**	=और	**अपि**	=भी
अधिकम्	=अधिक	**यस्मिन्**	=जिसमें	**न, विचाल्यते**	=विचलित नहीं
अपरम्	=कोई दूसरा	**स्थितः**	=स्थित होनेपर		किया जा सकता।

विशेष भाव—यह श्लोक सभी साधनोंकी कसौटी है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि किसी

भी साधनसे यह कसौटी प्राप्त होनी चाहिये। अपनी स्थिति समझनेके लिये यह श्लोक साधकके लिये बहुत उपयोगी है। जीवमात्रका ध्येय यही रहता है कि मेरा दु:ख मिट जाय और सुख मिल जाय। अत: इस श्लोकमें वर्णित स्थिति साधकमात्रको प्राप्त करनी चाहिये, अन्यथा उसकी साधना पूर्ण नहीं हुई। साधक बीचमें अटक न जाय, अपनी अधूरी स्थितिको ही पूर्ण न मान ले, इसके लिये उसको यह श्लोक सामने रखना चाहिये।

जिसमें लाभका तो अन्त नहीं और दु:खका लेश भी नहीं—ऐसा दुर्लभ पद मनुष्यमात्रको मिल सकता है! परन्तु वह भोग और संग्रहमें लगकर कितना अनर्थ कर लेता है, जिसका कोई पारावार नहीं!

तं विद्याद्दु:खसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

दु:खसंयोगवियोगम्	= जिसमें दु:खोंके संयोगका ही वियोग है,
तम्	= उसीको
योगसञ्ज्ञितम्	= 'योग' नामसे
विद्यात्	= जानना चाहिये।
स:	= (वह योग जिस ध्यानयोगका लक्ष्य है,) उस
योग:	= ध्यानयोगका अभ्यास
अनिर्विण्णचेतसा	= न उकताये हुए चित्तसे
निश्चयेन	= निश्चयपूर्वक
योक्तव्य:	= करना चाहिये।

विशेष भाव—सांसारिक संयोगका विभाग अलग है और योगका विभाग अलग है। 'संयोग' उसके साथ होता है, जिसके साथ हम सदा नहीं रह सकते और जो हमारे साथ सदा नहीं रह सकता। 'योग' उसके साथ होता है, जिसके साथ हम सदा रह सकते हैं और जो हमारे साथ सदा रह सकता है। इसलिये संसारमें एक-दूसरेके साथ संयोग होता है और परमात्माके साथ योग होता है। संसारका योग नहीं है और परमात्माका वियोग नहीं है अर्थात् संसार हमें मिला हुआ नहीं है और परमात्मा हमारेसे अलग नहीं है। संसारको मिला हुआ मानना और परमात्माको अलग मानना—यही अज्ञान है, यही मनुष्यकी सबसे बड़ी भूल है। संसारके संयोगका तो वियोग होता ही है, पर परमात्माके योगका कभी वियोग होता ही नहीं।

मनुष्य चाहता है संयोग, पर हो जाता है वियोग, इसलिये संसार दु:खरूप है—'**दु:खालयमशाश्वतम्**' (गीता ८। १५)। कुछ चाहना रहनेसे ही दु:खोंका संयोग होता है। कुछ भी चाहना न रहे तो दु:खोंका संयोग नहीं होता, प्रत्युत परमात्माके साथ योग होता है।

परमात्माके साथ जीवका योग अर्थात् सम्बन्ध नित्य है। इस स्वत:सिद्ध नित्ययोगका ही नाम 'योग' है। यह नित्ययोग सब देशमें है, सब कालमें है, सब क्रियाओंमें है, सब वस्तुओंमें है, सब व्यक्तियोंमें है, सब अवस्थाओंमें है, सब परिस्थितियोंमें है, सब घटनाओंमें है। तात्पर्य है कि इस नित्ययोगका कभी वियोग हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं। परन्तु असत् (शरीर) के साथ अपना सम्बन्ध मान लेनेसे इस नित्ययोगका अनुभव नहीं होता। दु:खरूप असत्‌के साथ माने हुए संयोगका वियोग (सम्बन्ध-विच्छेद) होते ही इस नित्ययोगका अनुभव हो जाता है। यही गीताका मुख्य योग है और इसी योगका अनुभव करनेके लिये गीताने कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग आदि साधनोंका वर्णन किया है। परन्तु इन साधनोंको 'योग' तभी कहा जायगा, जब असत्‌से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद और परमात्माके साथ नित्य सम्बन्धका अनुभव होगा।

योगकी परिभाषा भगवान्‌ने दो प्रकारसे की है—

(१) समताका नाम योग है—'**समत्वं योग उच्यते**' (२। ४८)

(२) दु:खरूप संसारके संयोगके वियोगका नाम योग है—'**तं विद्याद्दु:खसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (६। २३)

चाहे समता कह दें, चाहे संसारके संयोगका वियोग कह दें, दोनों एक ही हैं। तात्पर्य है कि समतामें स्थिति

ऑपरेटर-सेटिंग : रवीश शुक्ल
फोल्डर : रवीश शुक्ल, फाईल : साधक-संजीवनी-६
प्रिन्ट : रवीश शुक्ल
पुस्तकका नाम : साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
प्रूफ कापी : पहला
पढ़नेवालेका स्पष्ट हस्ताक्षर/दिनांक..

होनेपर संसारके संयोगका वियोग हो जायगा और संसारके संयोगका वियोग होनेपर समतामें स्थिति हो जायगी। दोनोंमेंसे कोई एक होनेपर नित्ययोगकी प्राप्ति हो जायगी। परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे देखें तो '**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' पहली स्थिति है और '**समत्वं योग उच्यते**' बादकी स्थिति है, जिसमें नैष्ठिकी शान्ति, परमशान्ति अथवा आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति है।

समताकी प्राप्ति भी स्वतः हो रही है और दुःखोंकी निवृत्ति भी स्वतः हो रही है। प्राप्ति उसीकी होती है, जो नित्यप्राप्त है और निवृत्ति उसीकी होती है, जो नित्यनिवृत्त है। नित्यप्राप्तकी प्राप्तिका नाम भी योग है और नित्यनिवृत्तकी निवृत्तिका नाम भी योग है। वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके संयोगसे होनेवाले जितने भी सुख हैं, वे सब दुःखोंके कारण अर्थात् दुःख पैदा करनेवाले हैं (गीता ५। २२)। अतः संयोगमें ही दुःख होता है, वियोगमें नहीं। वियोग (संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद)में जो सुख है, उस सुखका वियोग नहीं होता, क्योंकि वह नित्य है। जब संयोगमें भी वियोग है और वियोगमें भी वियोग है तो वियोग ही नित्य हुआ। इस नित्य वियोगको ही गीता 'योग' कहती है।

परमात्मतत्त्व 'है'-रूप और संसार 'नहीं'-रूप है। एक मार्मिक बात है कि 'है' को देखनेसे शुद्ध 'है' नहीं दीखता, पर 'नहीं' को 'नहीं'-रूपसे देखनेपर शुद्ध 'है' दीखता है! कारण कि 'है' को देखनेमें मन-बुद्धि लगायेंगे, वृत्ति लगायेंगे तो 'है'के साथ वृत्तिरूप 'नहीं' भी मिला रहेगा। परन्तु 'नहीं' को 'नहीं'-रूपसे देखनेपर वृत्ति भी 'नहीं' में चली जायगी और शुद्ध 'है' शेष रह जायगा; जैसे—कूड़ा-करकट दूर करनेपर उसके साथ झाड़ूका भी त्याग हो जाता है और मकान शेष रह जाता है। तात्पर्य है कि 'परमात्मा सबमें परिपूर्ण हैं'—इसका मनसे चिन्तन करनेपर, बुद्धिसे निश्चय करनेपर वृत्तिके साथ हमारा सम्बन्ध बना रहेगा। परन्तु 'संसारका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है'—इस प्रकार संसारको अभावरूपसे देखनेपर संसार और वृत्ति—दोनोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा और भावरूप शुद्ध परमात्मतत्त्व स्वतः शेष रह जायगा।

~~~

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ २४॥

सङ्कल्पप्रभवान् = संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली
सर्वान् = सम्पूर्ण
कामान् = कामनाओंका
अशेषतः = सर्वथा
त्यक्त्वा = त्याग करके (और)
मनसा = मनसे
एव = ही
इन्द्रियग्रामम् = इन्द्रिय-समूहको
समन्ततः = सभी ओरसे
विनियम्य = हटाकर।

विशेष भाव—पहले स्फुरणा होती है, फिर संकल्प होता है। स्फुरणामें सत्ता, आसक्ति और आग्रह होनेसे वह संकल्प हो जाता है, जो बन्धनकारक होता है। संकल्पसे फिर कामना उत्पन्न होती है। 'स्फुरणा' दर्पणके काँचकी तरह है, जिसमें चित्र पकड़ा नहीं जाता। परन्तु 'संकल्प' कैमरेके काँचकी तरह है, जिसमें चित्र पकड़ा जाता है। साधकको सावधानी रखनी चाहिये कि स्फुरणा तो हो, पर संकल्प न हो।

~~~

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ २५॥

धृतिगृहीतया = धैर्ययुक्त
बुद्ध्या = बुद्धिके द्वारा (संसारसे)
शनैः, शनैः = धीरे-धीरे
उपरमेत् = उपराम हो जाय (और)
मनः = मन (बुद्धि)को
आत्मसंस्थम् = परमात्मस्वरूपमें सम्यक् प्रकारसे स्थापन
कृत्वा = करके (फिर)
किञ्चित् = कुछ
अपि = भी
न, चिन्तयेत् = चिन्तन न करे।

विशेष भाव— ध्यानयोगके दो प्रकार हैं—(१) मनको एकाग्र करना और (२) विवेकपूर्वक मनसे सम्बन्ध-विच्छेद करना। विवेकपूर्वक सम्बन्ध-विच्छेदसे तत्काल मुक्ति होती है। संसारमें कितना पाप-पुण्य होता है, पर उसके साथ हमारा सम्बन्ध है ही नहीं, ऐसे ही शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके साथ भी हमारा सम्बन्ध नहीं है। इसीको 'उपरति' कहते हैं। चिन्तन करनेकी वृत्तिसे भी सम्बन्ध नहीं रहना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें आया है—

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥

(११। २९। १८)

'पूर्वोक्त साधन (मन-वाणी-शरीरकी सभी क्रियाओंसे परमात्माकी उपासना) करनेवाले भक्तका 'सब कुछ परमात्मस्वरूप ही है'—ऐसा निश्चय हो जाता है। फिर वह इस अध्यात्मविद्याके द्वारा सब प्रकारसे संशयरहित होकर सब जगह परमात्माको भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह चिन्तन भी न रहे, प्रत्युत साक्षात् परमात्मा ही दीखने लगें।'

सम्पूर्ण देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें एक ही परमात्मतत्त्व सत्तारूपसे ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। देश, काल आदिका तो अभाव है, पर परमात्मतत्त्वका नित्य भाव है। इस प्रकार साधक पहले मन-बुद्धिसे यह निश्चय कर ले कि 'परमात्मतत्त्व है'। फिर इस निश्चयको भी छोड़ दे और चुप हो जाय अर्थात् कुछ भी चिन्तन न करे। आत्माका, अनात्माका; परमात्माका, संसारका; संयोगका, वियोगका, कुछ भी चिन्तन न करे। कुछ भी चिन्तन करेगा तो संसार आ ही जायगा। कारण कि कुछ भी चिन्तन करनेसे चित्त (करण) साथमें रहेगा। करण साथमें रहेगा तो संसारका त्याग नहीं होगा; क्योंकि करण भी संसार ही है। इसलिये **'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'** में करणसे सम्बन्ध-विच्छेद है; क्योंकि जब करण साथमें नहीं रहेगा, तभी असली ध्यान होगा। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चिन्तन करनेपर भी वृत्ति रहती ही है, वृत्तिका अभाव नहीं होता। परन्तु कुछ भी चिन्तन करनेका भाव न रहनेसे वृत्ति स्वतः शान्त हो जाती है। अतः साधकको चिन्तनकी सर्वथा उपेक्षा करनी है। जैसे जलके स्थिर (शान्त) होनेपर उसमें मिली हुई मिट्टी शनैः-शनैः अपने-आप नीचे बैठ जाती है, ऐसे ही चुप होनेपर सब विकार शनैः-शनैः अपने-आप शान्त हो जाते हैं, अहम् गल जाता है और वास्तविक तत्त्व (अहंरहित सत्ता) का अनुभव हो जाता है।

यहाँ वृत्तिका अभाव करनेमें ही **'शनैः शनैः'** पदोंका प्रयोग हुआ है **'शनैः शनैः'** कहनेका तात्पर्य है कि जबर्दस्ती न करे, जल्दबाजी न करे; क्योंकि जन्म-जन्मान्तरके संस्कार जल्दबाजीसे नहीं मिटते। जल्दबाजी चंचलताको स्थिर, स्थायी करनेवाली है, पर **'शनैः शनैः'** चंचलताका नाश करनेवाली है।

प्रकृतिके सम्बन्धके बिना तत्त्वका चिन्तन, मनन आदि नहीं हो सकता । अतः साधक तत्त्वका चिन्तन करेगा तो चित्त साथमें रहेगा, मनन करेगा तो मन साथमें रहेगा, निश्चय करेगा तो बुद्धि साथमें रहेगी, दर्शन करेगा तो दृष्टि साथमें रहेगी, श्रवण करेगा तो श्रवणेन्द्रिय साथमें रहेगी, कथन करेगा तो वाणी साथमें रहेगी। ऐसे ही 'है' को मानेगा तो मान्यता तथा माननेवाला रह जायगा और 'नहीं' का निषेध करेगा तो निषेध करनेवाला रह जायगा। कर्तृत्वाभिमानका त्याग करेगा तो 'मैं कर्ता नहीं हूँ'—यह सूक्ष्म अहंकार रह जायगा अर्थात् त्याग करनेसे त्याज्य वस्तु और त्यागी (त्याग करनेवाला) रह जायगा। इसलिये साधक उपराम हो जाय अर्थात् न मान्यता करे, न निषेध करे; न ग्रहण करे, न त्याग करे, प्रत्युत स्वतःसिद्ध स्वाभाविक तत्त्वको स्वीकार करे और बाहर-भीतरसे चुप हो जाय। मेरेको चुप होना है—यह आग्रह (संकल्प) भी न रखे, नहीं तो कर्तृत्व आ जायगा; क्योंकि चुप स्वतःसिद्ध है।

साधक मैं, तू ,यह और वह—इन चारोंको छोड़ दे तो एक 'है' (सत्तामात्र) रह जाता है। उस स्वतःसिद्ध 'है' को स्वीकार कर ले तथा अपनी ओरसे कुछ भी चिन्तन न करे। यदि अपने-आप कोई चिन्तन आ जाय तो उससे न राग करे, न द्वेष करे; न राजी हो, न नाराज हो; न उसको अच्छा माने, न बुरा माने और न अपनेमें माने, चिन्तन करना नहीं है, पर चिन्तन हो जाय तो उसका कोई दोष नहीं है। अपने-आप हवा बहती है, सरदी-

ऑपरेटर-सेटिंग : रवीश शुक्ल
फोल्डर : रवीश शुक्ल, फाईल : साधक-संजीवनी-६
प्रिन्ट : रवीश शुक्ल
पुस्तकका नाम : साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
प्रूफ कापी : पहला
पढ़नेवालेका स्पष्ट हस्ताक्षर/दिनांक..

गरमी आती है, वर्षा होती है तो उसका हमें कोई दोष नहीं लगता; क्योंकि उसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं है। दोष तो जड़तासे सम्बन्ध जोड़नेसे लगता है । अत: चिन्तन हो जाय तो उसकी उपेक्षा रखे, उसके साथ अपनेको मिलाये नहीं अर्थात् ऐसा न माने कि मैं चिन्तन करता हूँ और चिन्तन मेरेमें होता है। चिन्तन मनमें होता है और मनके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

'**आत्मसंस्थं मनः कृत्वा**' में 'मन' शब्द बुद्धिका वाचक है; क्योंकि चंचलता मनमें और स्थिरता बुद्धिमें होती है। अत: '**आत्मसंस्थम्**' कहनेका तात्पर्य है कि चंचलता न रहे, प्रत्युत स्थिरता रहे। जैसे 'यह अमुक गाँव है'—ऐसी मान्यता दृढ़ होनेसे इसका चिन्तन नहीं करना पड़ता, ऐसे ही 'परमात्मा हैं'—ऐसी मान्यता दृढ़ रहे तो फिर इसका चिन्तन नहीं करना पड़ेगा। जो स्वत:सिद्ध है, उसका चिन्तन क्या करें ? इसलिये आत्मचिन्तन करनेसे आत्मबोध नहीं होता; क्योंकि आत्मचिन्तन करनेसे चिन्तक रहता है और अनात्माकी सत्ता रहती है। अनात्माकी सत्ता मानेंगे, तभी तो अनात्माका त्याग और आत्माका चिन्तन करेंगे!

'**न किञ्चिदपि चिन्तयेत्**'—इसको 'चुप साधन', 'मूक सत्संग' और 'अचिन्त्यका ध्यान' भी कहते हैं। इसमें न तो स्थूलशरीरकी क्रिया है, न सूक्ष्मशरीरका चिन्तन है और न कारणशरीरकी स्थिरता है। इसमें इन्द्रियाँ भी चुप हैं, मन भी चुप है, बुद्धि भी चुप है अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिकी कोई क्रिया नहीं है। सभी चुप हैं, कोई बोलता नहीं! जो देखना था वह देख लिया, सुनना था वह सुन लिया, बोलना था वह बोल लिया, करना था वह कर लिया, अब कुछ भी देखने, सुनने, बोलने, करने आदिकी रुचि नहीं रही—ऐसा होनेपर ही 'चुप साधन' होता है। यह 'चुप साधन' समाधिसे भी ऊँचा है; क्योंकि इसमें बुद्धि और अहम्‌से सम्बन्ध-विच्छेद है। समाधिमें तो लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद—ये चार दोष (विघ्न) रहते हैं, पर चुप साधनमें ये दोष नहीं रहते। चुप साधन वृत्तिरहित है।

~~~

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥

अस्थिरम्	=(यह) अस्थिर (और)	**यतः, यतः**	=जहाँ-जहाँ	**एतत्**	=इसको
		निश्चरति	=विचरण करता है,	**आत्मनि**	=(एक) परमात्मामें
चञ्चलम्	=चंचल	**ततः, ततः**	=वहाँ-वहाँसे	**एव**	=ही
मनः	=मन	**नियम्य**	=हटाकर	**वशम्, नयेत्**	=भलीभाँति लगाये।

विशेष भाव—यदि पूर्वश्लोकके अनुसार चुप-साधन न कर सके तो मन जहाँ-जहाँ जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर उसको एक परमात्मामें लगाये। मनको परमात्मामें लगानेका एक बहुत श्रेष्ठ साधन है कि मन जहाँ-जहाँ जाय, वहाँ-वहाँ परमात्माको ही देखे अथवा मनमें जो-जो चिन्तन आये, उसको परमात्माका ही स्वरूप समझे।

एक मार्मिक बात है कि जबतक साधक एक परमात्माकी सत्ताके सिवाय दूसरी सत्ता मानेगा, तबतक उसका मन सर्वथा निरुद्ध नहीं हो सकता। कारण कि जबतक अपनेमें दूसरी सत्ताकी मान्यता है,तबतक रागका सर्वथा नाश नहीं हो सकता और रागका सर्वथा नाश हुए बिना मन सर्वथा निर्विषय नहीं हो सकता। रागके रहते हुए मनका सीमित निरोध होता है, जिससे लौकिक सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है, वास्तविक तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। दूसरी सत्ताकी मान्यता रहते हुए जो मन निरुद्ध होता है, उसमें व्युत्थान होता है अर्थात् उसमें समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ होती हैं। कारण कि दूसरी सत्ता माने बिना दो अवस्थाएँ सम्भव ही नहीं हैं। अत: मनका सर्वथा निरोध दूसरी सत्ता न माननेसे ही होगा।

~~~

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७॥

अकल्मषम्	= जिसके सब पाप नष्ट हो गये हैं,
शान्तरजसम्	= जिसका रजोगुण शान्त हो गया है (तथा)
प्रशान्तमनसम्	= जिसका मन सर्वथा शान्त (निर्मल) हो गया है, (ऐसे)
एनम्	= इस
ब्रह्मभूतम्	= ब्रह्मरूप बने हुए
योगिनम्	= योगीको
हि	= निश्चित ही
उत्तमम्	= उत्तम (सात्त्विक)
सुखम्	= सुख
उपैति	= प्राप्त होता है।

~~~

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ २८॥

एवम्	= इस प्रकार
आत्मानम्	= अपने-आपको
सदा	= सदा
युञ्जन्	= (परमात्मामें) लगाता हुआ
विगतकल्मषः	= पापरहित
योगी	= योगी
सुखेन	= सुखपूर्वक
ब्रह्मसंस्पर्शम्	= ब्रह्मप्राप्तिरूप
अत्यन्तम्	= अत्यन्त
सुखम्	= सुखका
अश्नुते	= अनुभव कर लेता है।

~~~

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९॥

सर्वत्र	= सब जगह
समदर्शनः	= अपने स्वरूपको देखनेवाला
च	= और
योगयुक्तात्मा	= ध्यानयोगसे युक्त अन्तःकरणवाला (सांख्ययोगी)
आत्मानम्	= अपने स्वरूपको
सर्वभूतस्थम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित
ईक्षते	= देखता है (और)
सर्वभूतानि	= सम्पूर्ण प्राणियोंको
आत्मनि	= अपने स्वरूपमें (देखता है)।

~~~

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ३०॥

यः	= जो (भक्त)
सर्वत्र	= सबमें
माम्	= मुझे
पश्यति	= देखता है
च	= और
मयि	= मुझमें
सर्वम्	= सबको
पश्यति	= देखता है,
तस्य	= उसके लिये
अहम्	= मैं
न, प्रणश्यामि	= अदृश्य नहीं होता
च	= और
सः	= वह
मे	= मेरे लिये
न, प्रणश्यति	= अदृश्य नहीं होता।

विशेष भाव—पूर्वश्लोकमें आत्मज्ञानकी बात कहकर अब भगवान् परमात्मज्ञानकी बात कहते हैं। ध्यानयोगके किसी साधकमें ज्ञानके संस्कार रहनेसे विवेककी मुख्यता रहती है और किसी साधकमें भक्तिके संस्कार रहनेसे श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यता रहती है। अतः ज्ञानके संस्कारवाला ध्यानयोगी विवेकपूर्वक आत्माका अनुभव करता है—

ऑपरेटर-सेटिंग : रवीश शुक्ल
फोल्डर : रवीश शुक्ल, फाईल : साधक-संजीवनी-६
प्रिन्ट : रवीश शुक्ल
पुस्तकका नाम : साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
प्रूफ कापी : पहला
पढ़नेवालेका स्पष्ट हस्ताक्षर/दिनांक...
~~~

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' (गीता ६। २९) और भक्तिके संस्कारवाला ध्यानयोगी श्रद्धा-विश्वासपूर्वक परमात्माका अनुभव करता है—**'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'।**

'यो मां पश्यति सर्वत्र' पदोंका भाव है कि जो मेरेको दूसरोंमें भी देखता है और अपनेमें भी देखता है। **'सर्वं च मयि पश्यति'** पदोंका भाव है कि जो दूसरोंको भी मेरेमें देखता है और अपनेको भी मेरेमें देखता है।

जैसे सब जगह बर्फ-ही-बर्फ पड़ी हो तो बर्फ कैसे छिपेगी? बर्फके पीछे बर्फ रखनेपर भी बर्फ ही दीखेगी। ऐसे ही जब सब रूपोंमें एक भगवान् ही हैं तो फिर वे कैसे छिपें, कहाँ छिपें और किसके पीछे छिपें? क्योंकि एक परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं। परमात्मामें शरीर और शरीरी, सत् और असत्, जड़ और चेतन, ईश्वर और जगत्, सगुण और निर्गुण, साकार और निराकार आदि कोई विभाग है ही नहीं। उस एकमें ही अनेक विभाग हैं और अनेक विभागोंमें वह एक ही है। यह विवेक-विचारका विषय नहीं है, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासका विषय है। अतः 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इसको साधक श्रद्धा-विश्वासपूर्वक मान ले, स्वीकार कर ले। दृढ़तासे माननेपर फिर वैसा ही अनुभव हो जायगा।

साधक पहले परमात्माको दूर देखता है, फिर नजदीक देखता है, फिर अपनेमें देखता है, और फिर केवल परमात्माको ही देखता है। कर्मयोगी परमात्माको नजदीक देखता है, ज्ञानयोगी परमात्माको अपनेमें देखता है और भक्तियोगी सब जगह परमात्माको ही देखता है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ३१॥

एकत्वम्	= (मुझमें) एकीभावसे		प्राणियोंमें स्थित	**अपि**	= भी
आस्थितः	= स्थित हुआ	**माम्**	= मेरा	**मयि**	= मुझमें (ही)
यः	= जो	**भजति**	= भजन करता है,	**वर्तते**	= बर्ताव कर रहा है अर्थात् वह नित्य-निरन्तर मुझमें ही स्थित है।
योगी	= भक्तियोगी	**सः**	= वह		
सर्वभूतस्थितम्	= सम्पूर्ण	**सर्वथा**	= सब कुछ		
		वर्तमानः	= बर्ताव करता हुआ		

विशेष भाव— भक्त सम्पूर्ण जगत्को परमात्माका ही स्वरूप देखता है। उसकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय और किसीकी सत्ता नहीं रहती। उसके लिये द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—तीनों ही परमात्मस्वरूप हो जाते हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७। १९)। इसलिये जैसे गङ्गाजलसे गङ्गाका पूजन किया जाय, ऐसे ही उस भक्तका सब बर्ताव परमात्मामें ही होता है। जैसे शरीरमें तादात्म्यवाला व्यक्ति सब क्रिया करते हुए शरीरमें ही रहता है, ऐसे ही भक्त सब क्रिया करते हुए भी परमात्मामें ही रहता है।

आगे तेरहवें अध्यायमें भगवान्ने ज्ञानयोगीके लिये कहा है—**'सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते'** (१३। २३) और यहाँ भक्तके लिये कहा है—**'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते'।** तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञानमार्गमें तो जन्म-मरण मिट जाता है, मुक्ति हो जाती है,पर भक्तिमार्गमें जन्म-मरण मिटकर भगवान्से अभिन्नता होती है, आत्मीयता होती है। इसी भावको गीतामें इस प्रकार भी कहा गया है—**'तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति'** (६। ३०), **'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'** (७। १७), **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (७। १८), **'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्'** (९। २९)। ज्ञानमार्गमें तो सूक्ष्म अहम्की गन्ध रहनेसे दार्शनिक मतभेद रह सकता है, पर भक्तिमार्गमें भगवान्से आत्मीयता होनेपर सूक्ष्म अहम्की गन्ध तथा उससे होनेवाला दार्शनिक मतभेद नहीं रहता। **'न स भूयोऽभिजायते'** में स्वरूपमें स्थितिका अनुभव होनेपर केवल स्वयं (स्वरूप) रहता है और **'स योगी मयि वर्तते'** में केवल भगवान् रहते हैं, स्वयं (योगी) नहीं रहता अर्थात् स्वयं योगीरूप नहीं रहता, प्रत्युत भगवत्स्वरूप रहता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ ३२॥

अर्जुन	= हे अर्जुन!	**समम्**	= समान		(भी समान देखता है),
यः	= जो (भक्त)	**पश्यति**	= देखता है		
आत्मौपम्येन	= अपने शरीरकी उपमासे	**वा**	= और	**सः**	= वह
		सुखम्	= सुख	**परमः**	= परम
सर्वत्र	= सब जगह (मुझे)	**यदि, वा**	= अथवा	**योगी**	= योगी
		दुःखम्	= दुःखको	**मतः**	= माना गया है।

विशेष भाव—पूर्वश्लोकमें '**स योगी मयि वर्तते**' (वह मेरेमें ही बर्ताव कर रहा है) कहकर अब भगवान् बताते हैं कि वह कैसे बर्ताव करता है? जैसे साधारण मनुष्य शरीरमें अपनेको देखता है, शरीरके किसी भी अंगकी पीड़ा न चाहकर, किसी भी अंगसे द्वेष न करके सब अंगोंको समानरूपसे अपना मानता है, ऐसे ही भक्त सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपने अंशी भगवान्‌को देखता है और सबका दुःख दूर करने तथा सुख पहुँचानेकी समानरूपसे स्वाभाविक चेष्टा करता है। वह वस्तु, योग्यता और सामर्थ्यको अपनी न मानकर भगवान्‌की मानता है। जैसे गङ्गाजलसे गङ्गाका पूजन किया जाय, दीपकसे सूर्यका पूजन किया जाय, ऐसे ही भक्त भगवान्‌की वस्तुको भगवान्‌की सेवामें अर्पित करता है—'**त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये**'।

जैसे शरीरके सब अंगोंसे यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी उनमें आत्मबुद्धि एक ही रहती है तथा उन अंगोंकी पीड़ा दूर करने तथा उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा भी समान ही रहती है, ऐसे ही 'जैसा देव, वैसी पूजा' के अनुसार ब्राह्मण और चाण्डाल, साधु और कसाई, गाय और कुत्ता आदि सबसे शास्त्रमर्यादाके अनुसार यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी भक्तकी भगवद्‌बुद्धिमें तथा उनका दुःख दूर करने और उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टामें कोई अन्तर नहीं आता।

जैसे भक्त सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्माके साथ भगवान्‌की एकता मानता है (गीता ६। ३१), ऐसे ही वह सब शरीरोंकी भी अपने शरीरके साथ एकता मानता है। इसलिये वह दूसरेके दुःखसे दुःखी और सुखसे सुखी होता है—'*पर दुख दुख सुख सुख देखे पर*' (मानस, उत्तर० ३८। १)। वह अपने शरीरके सुख-दुःखकी तरह सबके सुख-दुःखको अपना ही सुख-दुःख समझता है। दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेका तात्पर्य खुद दुःखी होना नहीं है, प्रत्युत दूसरेका दुःख दूर करनेकी चेष्टा करना है। इसी तरह खुद सुखी होनेके लिये दूसरेका दुःख दूर नहीं करना है, प्रत्युत करुणा करके दूसरेको सुखी करनेकी चेष्टा करना है। तात्पर्य है कि खुद सुखका भोग नहीं करना है, प्रत्युत 'दूसरेका दुःख दूर हो गया, वह सुखी हो गया'—इसको लेकर प्रसन्न होना है।

आँख और पैरका भेद इतना है कि आँखोंसे देखते हैं और पैरोंसे चलते हैं; आँख ज्ञानेन्द्रिय है और पैर कर्मेन्द्रिय है। इतना भेद होते हुए भी अभिन्नता इतनी है कि काँटा पैरमें लगता है, आँसू आँखोंमें आ जाते हैं और मिट्टी आँखमें पड़ती है, लड़खड़ाते पैर हैं! तात्पर्य है कि हम शरीरको संसारसे और संसारको शरीरसे अलग नहीं कर सकते। इसलिये अगर हम शरीरकी परवाह करते हैं तो वैसे ही संसारकी भी परवाह करें और अगर संसारकी बेपरवाह करते हैं तो वैसे ही शरीरकी भी बेपरवाह करें। दोनों बातोंमें चाहे कोई मान लें, इसीमें ईमानदारी है!

~~~

ऑपरेटर-सेटिंग : रवीश शुक्ल
फोल्डर : रवीश शुक्ल, फाईल : साधक-संजीवनी-६
प्रिन्ट : रवीश शुक्ल
पुस्तकका नाम : साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
प्रूफ कापी : पहला
पढ़नेवालेका स्पष्ट हस्ताक्षर/दिनांक...
~~~

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ३३॥

अर्जुन बोले—

मधुसूदन	=हे मधुसूदन!	**योगः**	=योग	**एतस्य**	=इस योगकी
त्वया	=आपने	**प्रोक्तः**	=कहा है,	**स्थिराम्**	=स्थिर
साम्येन	=समतापूर्वक	**चञ्चलत्वात्**	=(मनकी)	**स्थितिम्**	=स्थिति
यः	=जो		चंचलताके कारण	**न**	=नहीं
अयम्	=यह	**अहम्**	=मैं	**पश्यामि**	=देखता हूँ।

~~~

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४॥

हि	=कारण कि	**दृढम्**	=दृढ़ (जिद्दी)		स्थित)
कृष्ण	=हे कृष्ण!	**बलवत्**	=(और)	**वायोः**	=वायुकी
मनः	=मन		बलवान् है।	**इव**	=तरह
चञ्चलम्	=(बड़ा ही)	**तस्य**	=उसको	**सुदुष्करम्**	=अत्यन्त
	चंचल,	**निग्रहम्**	=रोकना		कठिन
प्रमाथि	=प्रमथनशील,	**अहम्**	=मैं (आकाशमें	**मन्ये**	=मानता हूँ।

विशेष भाव— भगवान्ने उन्तीसवें श्लोकमें स्वरूपका ध्यान करनेवाले साधकका अनुभव बताया और तीसवेंसे बत्तीसवें श्लोकोंमें सगुण-साकार भगवान्का ध्यान करनेवाले साधकका अनुभव बताया। इन श्लोकोंमें भगवान्का आशय यह था कि सबमें आत्मदर्शन अथवा सबमें भगवद्दर्शन करना ही ध्यानयोगका अन्तिम फल है। ज्ञानके संस्कारवाले ध्यानयोगी सबमें आत्माको और भक्तिके संस्कारवाले ध्यानयोगी सबमें भगवान्को देखते हैं। सबमें आत्माको देखना 'आत्मज्ञान' है और सबमें भगवान्को देखना 'परमात्मज्ञान' है। आत्मज्ञानमें विवेककी और परमात्मज्ञानमें श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यता है, मनकी स्थिरताकी मुख्यता नहीं है। परन्तु अर्जुनके भीतर दसवेंसे अट्ठाईसवें श्लोकतक कहे ध्यानयोगका संस्कार बैठा था; अतः उन्होंने आत्मज्ञान अथवा परमात्मज्ञान न होनेमें मनकी चंचलताको हेतु मान लिया। उनकी दृष्टि ध्यानयोगीके भीतरके ज्ञान या भक्तिके संस्कारकी तरफ नहीं गयी, प्रत्युत मनकी चंचलताकी तरफ गयी। अतः उन्होंने मनकी चंचलताको बाधक मान लिया।

~~~

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ ३५॥

श्रीभगवान् बोले—

महाबाहो	=हे महाबाहो!		भी बड़ा कठिन है—	**अभ्यासेन**	=अभ्यास
मनः	=यह मन	**असंशयम्**	=यह तुम्हारा कहना	**च**	=और
चलम्	=बड़ा चंचल है		बिलकुल ठीक है।	**वैराग्येण**	=वैराग्यके द्वारा
	(और)	**तु**	=परन्तु	**गृह्यते**	=(इसका) निग्रह
दुर्निग्रहम्	=इसका निग्रह करना	**कौन्तेय**	=हे कुन्तीनन्दन!		किया जाता है।

~~~
~~~

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

असंयतात्मना	= जिसका मन पूरा वशमें नहीं है, उसके द्वारा	**तु**	= परन्तु		साधकको
		उपायतः	= उपायपूर्वक	**अवाप्तुम्**	= (योग) प्राप्त हो
		यतता	= यत्न करनेवाले (तथा)	**शक्यः**	= सकता है,
योगः	= योग			**इति**	= ऐसा
दुष्प्रापः	= प्राप्त होना कठिन है।	**वश्यात्मना**	= वशमें किये हुए मनवाले	**मे**	= मेरा
				मतिः	= मत है।

विशेष भाव—वास्तवमें ध्यानयोगकी सिद्धिके लिये मनका निग्रह करना उतना आवश्यक नहीं है, जितना उसको वशमें करना अर्थात् शुद्ध करना आवश्यक है। शुद्ध करनेका तात्पर्य है—मनमें विषयोंका राग न रहना। जिसने अपने मनको शुद्ध कर लिया है, उसका ध्यानयोग प्रयत्न करनेपर सिद्ध हो जाता है।

भगवान्ने इकतीसवें श्लोकमें '**सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः**' पदोंसे जो बात कही थी, उसमें मुख्य बाधा है—भगवद्बुद्धि न होना और बत्तीसवें श्लोकमें '**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन**' पदोंसे जो बात कही थी, उसमें मुख्य बाधा है—राग-द्वेष होना। परन्तु अर्जुनने भूलसे मनकी चंचलताको बाधक समझ लिया! वास्तवमें मनकी चंचलता बाधक नहीं है, प्रत्युत सबमें भगवद्बुद्धि न होना और राग-द्वेष होना बाधक है। जबतक राग-द्वेष रहते हैं, तबतक सबमें भगवद्बुद्धि नहीं होती और जबतक सबमें भगवद्बुद्धि नहीं होती अर्थात् भगवान्के सिवाय दूसरी सत्ताकी मान्यता रहती है, तबतक मनका सर्वथा निरोध नहीं होता।

वृत्तिका निरोध करनेसे वृत्तिकी सत्ता आती है; क्योंकि वृत्तिकी सत्ता स्वीकार की है, तभी तो निरोध करते हैं। स्वरूपमें कोई वृत्ति नहीं है। अतः वृत्तिका निरोध करनेसे कुछ कालके लिये मनका निरोध होगा, फिर व्युत्थान हो जायगा। अगर दूसरी सत्ताकी मान्यता ही न रहे, तो फिर व्युत्थानका प्रश्न ही पैदा नहीं होगा। कारण कि दूसरी सत्ता न हो तो मन है ही नहीं!

~~~~

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ ३७॥

अर्जुन बोले—

कृष्ण	= हे कृष्ण!		अन्त समयमें अगर)		योगसिद्धिको
श्रद्धया, उपेतः	= जिसकी साधनमें श्रद्धा है,	**योगात्**	= योगसे	**अप्राप्य**	= प्राप्त न करके
		चलितमानसः	= विचलितमना हो जाय (तो)	**काम्**	= किस
अयतिः	= पर जिसका प्रयत्न शिथिल है, (वह			**गतिम्**	= गतिको
		योगसंसिद्धिम्	= (वह)	**गच्छति**	= चला जाता है?

विशेष भाव—करणसापेक्ष साधनमें मनको साथ लेकर स्वरूपमें स्थिति होती है—'**यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते**' (गीता ६। १८)। अतः मनके साथ सम्बन्ध रहनेसे विचलितमना होकर योगभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती है। करणको अपना माननेसे ही करणसापेक्ष साधन होता है। ध्यानयोगी मन (करण) को अपना मानकर उसको परमात्मामें लगाता है। मन लगानेसे ही वह योगभ्रष्ट होता है। अतः योगभ्रष्ट होनेमें करणसापेक्षता कारण है। यह करणसापेक्षता कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही साधनोंमें नहीं है।

ध्यानयोगीका पुनर्जन्म होता है—मनके विचलित होनेसे अर्थात् अपने साधनसे भ्रष्ट होनेसे, पर कर्मयोगी अथवा

ऑपरेटर-सेटिंग : रवीश शुक्ल
फोल्डर : रवीश शुक्ल, फाईल : साधक-संजीवनी-६
प्रिन्ट : रवीश शुक्ल
पुस्तकका नाम : साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
प्रूफ कापी : पहला
पढ़नेवालेका स्पष्ट हस्ताक्षर/दिनांक..
~~~~

ज्ञानयोगीका पुनर्जन्म होता है—सांसारिक आसक्ति रहनेसे। भक्तियोगमें भगवान्‌का आश्रय रहनेसे भगवान् अपने भक्तकी विशेष रक्षा करते हैं—'**योगक्षेमं वहाम्यहम्**' (गीता ९। २२), '**मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि**' (गीता १८। ५८)।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ ३८॥

महाबाहो	=हे महाबाहो!	**विमूढः**	=मोहित अर्थात् विचलित	**कच्चित्**	=क्या
अप्रतिष्ठः	=संसारके आश्रयसे रहित (और)	**उभयविभ्रष्टः**	=(—इस तरह) दोनों ओरसे भ्रष्ट हुआ साधक	**छिन्नाभ्रम्**	=छिन्न-भिन्न बादलकी
ब्रह्मणः	=परमात्मप्राप्तिके			**इव**	=तरह
पथि	=मार्गमें			**न, नश्यति**	=नष्ट तो नहीं हो जाता?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥ ३९॥

कृष्ण	=हे कृष्ण!	**छेत्तुम्**	=छेदन करनेके लिये	**छेत्ता**	=छेदन करनेवाला
मे	=मेरे	**अर्हसि**	=(आप ही) योग्य हैं;	**त्वदन्यः**	=आपके सिवाय दूसरा
एतत्	=इस	**हि**	=क्योंकि		
संशयम्	=सन्देहका	**अस्य**	=इस	**न, उपपद्यते**	=कोई हो नहीं सकता।
अशेषतः	=सर्वथा	**संशयस्य**	=संशयका		

विशेष भाव—अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णकी भगवत्तापर विश्वास था, तभी यहाँ वे योगभ्रष्टकी गतिके विषयमें प्रश्न करते हैं और कहते हैं कि इस बातको आपके सिवाय दूसरा कोई बता नहीं सकता। भगवान् श्रीकृष्णकी भगवत्तापर विश्वास होनेके कारण ही उन्होंने एक अक्षौहिणी सशस्त्र नारायणी सेनाको छोड़कर निःशस्त्र भगवान्‌को ही स्वीकार किया था!

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥ ४०॥

श्रीभगवान् बोले—

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**एव**	=ही		काम करनेवाला
तस्य	=उसका	**विनाशः**	=विनाश		
न	=न तो	**विद्यते**	=होता है;	**कश्चित्**	=कोई भी मनुष्य
इह	=इस लोकमें (और)	**हि**	=क्योंकि	**दुर्गतिम्**	=दुर्गतिको
न	=न	**तात**	=हे प्यारे!	**न**	=नहीं
अमुत्र	=परलोकमें	**कल्याणकृत्**	=कल्याणकारी	**गच्छति**	=जाता।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ ४१॥

योगभ्रष्टः	=(वह) योगभ्रष्ट	**प्राप्य**	=प्राप्त होकर (और)	**शुचीनाम्**	=शुद्ध (ममता-रहित)
पुण्यकृताम्	=पुण्यकर्म करनेवालोंके	**शाश्वतीः**	=(वहाँ) बहुत	**श्रीमताम्**	=श्रीमानोंके
		समाः	=वर्षोंतक	**गेहे**	=घरमें
लोकान्	=लोकोंको	**उषित्वा**	=रहकर (फिर यहाँ)	**अभिजायते**	=जन्म लेता है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥ ४२॥

अथवा	=अथवा (वैराग्यवान् योगभ्रष्ट)	**एव**	=ही	**जन्म**	=जन्म है, (यह)
		भवति	=जन्म लेता है।	**लोके**	=संसारमें
धीमताम्	=ज्ञानवान्	**ईदृशम्**	=इस प्रकारका	**हि**	=नि:सन्देह
योगिनाम्	=योगियोंके	**यत्**	=जो	**दुर्लभतरम्**	=बहुत ही दुर्लभ है।
कुले	=कुलमें	**एतत्**	=यह		

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥ ४३॥

कुरुनन्दन	=हे कुरुनन्दन!	**बुद्धिसंयोगम्**	=साधन-सम्पत्ति (अनायास ही)	**ततः**	=उससे (वह)
तत्र	=वहाँपर			**संसिद्धौ**	=साधनकी सिद्धिके विषयमें
तम्	=उसको	**लभते**	=प्राप्त हो जाती है।		
पौर्वदेहिकम्	=पहले मनुष्यजन्मकी			**भूयः**	=पुन: (विशेषतासे)
		च	=फिर	**यतते**	=यत्न करता है।

विशेष भाव—पारमार्थिक उन्नति 'स्व' की है और सांसारिक उन्नति 'पर' की है। इसलिये सांसारिक पूँजी तो नष्ट हो जाती है, पर पारमार्थिक पूँजी (साधन) योगभ्रष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होती। पारमार्थिक उन्नति ढक सकती है, पर मिटती नहीं और समय पाकर प्रकट हो जाती है।

पूर्वजन्ममें किये साधनके जो संस्कार बुद्धिमें बैठे हुए हैं, उनको यहाँ 'बुद्धिसंयोग' कहा गया है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ ४४॥

सः	=वह (श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट मनुष्य)	**अपि**	=भी	**एव**	=ही
		तेन	=उस	**ह्रियते**	=(परमात्माकी तरफ) खिंच जाता है;
अवशः	=(भोगोंके) परवश होता हुआ	**पूर्वाभ्यासेन**	=पहले मनुष्यजन्ममें किये हुए अभ्यास (साधन)के कारण		

ऑपरेटर-सेटिंग : रवीश शुक्ल　　पुस्तकका नाम : साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
फोल्डर : रवीश शुक्ल, फाईल : साधक-संजीवनी-६　　प्रूफ कापी : पहला
प्रिन्ट : रवीश शुक्ल　　पढ़नेवालेका स्पष्ट हस्ताक्षर/दिनांक..

हि	= क्योंकि	**जिज्ञासुः**	= जिज्ञासु		सकाम कर्मोंका
योगस्य	= योग (समता)का	**अपि**	= भी	**अतिवर्तते**	= अतिक्रमण कर जाता है।
		शब्दब्रह्म	= वेदोंमें कहे हुए		

विशेष भाव—सांसारिक पुण्य तो पापकी अपेक्षासे (द्वन्द्ववाला) है, पर भगवान्‌के सम्बन्ध (सत्संग, भजन आदि)से होनेवाला पुण्य (योग्यता, सामर्थ्य) विलक्षण है। इसलिये सांसारिक पुण्य मनुष्यको भगवान्‌में नहीं लगाता, पर भगवत्सम्बन्धी पुण्य मनुष्यको भगवान्‌में ही लगाता है। यह पुण्य फल देकर नष्ट नहीं होता (गीता २। ४०)। सांसारिक कामनाओंका त्याग करना और भगवान्‌की तरफ लगना—दोनों ही भगवत्सम्बन्धी पुण्य हैं।

'**पूर्वाभ्यासेन तेनैव**' पदोंका तात्पर्य है कि वर्तमान जन्ममें सत्संग, सच्चर्चा आदि न होनेपर भी केवल पूर्वाभ्यासके कारण वह परमात्मामें लग जाता है। इस पूर्वाभ्यासमें क्रिया (प्रवृत्ति) नहीं है, प्रत्युत गति है*। '**जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते**' में भी क्रियावाला अभ्यास न होकर गतिवाला अभ्यास है। तात्पर्य है कि इस अभ्यासमें प्रयत्न भी नहीं है और कर्तृत्व भी नहीं है, पर गति है। गतिमें स्वतः परमात्माकी ओर खींचनेकी शक्ति है। क्रियावाला अभ्यास किया जाता है और गतिवाला अभ्यास स्वतः होता है।

~~~

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ ४५॥

तु	= परन्तु	**संशुद्धकिल्बिषः**	= जिसके पाप नष्ट हो गये हैं (तथा)		है, वह योगी
योगी	= जो योगी			**ततः**	= फिर
प्रयत्नात्	= प्रयत्नपूर्वक			**पराम्**	= परम
यतमानः	= यत्न करता है (और)	**अनेकजन्मसंसिद्धः**	= जो अनेक जन्मोंसे सिद्ध हुआ	**गतिम्**	= गतिको
				याति	= प्राप्त हो जाता है।

~~~

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥ ४६॥

तपस्विभ्यः	= (सकामभाववाले) तपस्वियोंसे (भी)	**अपि**	= भी	**मतः**	= (ऐसा मेरा) मत है।
		अधिकः	= (योगी) श्रेष्ठ है		
		च	= और	**तस्मात्**	= अतः
योगी	= योगी	**कर्मिभ्यः**	= कर्मियोंसे भी	**अर्जुन**	= हे अर्जुन! (तू)
अधिकः	= श्रेष्ठ है,	**योगी**	= योगी	**योगी**	= योगी
ज्ञानिभ्यः	= ज्ञानियोंसे	**अधिकः**	= श्रेष्ठ है—	**भव**	= हो जा।

विशेष भाव—भोगीका विभाग अलग है और योगीका विभाग अलग है। भोगी योगी नहीं होता और योगी भोगी नहीं होता। जिनमें सकामभाव होता है, वे भोगी होते हैं और जिनमें निष्कामभाव होता है, वे योगी होते हैं। इसलिये सकामभाववाले तपस्वी, ज्ञानी और कर्मीसे भी निष्कामभाववाला योगी श्रेष्ठ है।

~~~

* गति और प्रवृत्तिका भेद जाननेके लिये पन्द्रहवें अध्यायके छठे श्लोकको परिशिष्टव्याख्या देखनी चाहिये।
~~~

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ४७॥

सर्वेषाम्	= सम्पूर्ण	**मद्‌गतेन**	= मुझमें तल्लीन हुए	**सः**	= वह
योगिनाम्	= योगियोंमें			**मे**	= मेरे
अपि	= भी	**अन्तरात्मना**	= मनसे	**मतः**	= मतमें
यः	= जो	**माम्**	= मेरा	**युक्ततमः**	= सर्वश्रेष्ठ योगी है।
श्रद्धावान्	= श्रद्धावान् भक्त	**भजते**	= भजन करता है,		

विशेष भाव—मनुष्यकी स्थिति वहीं होती है, जहाँ उसके मन-बुद्धि होते हैं (गीता १२। ८)। यहाँ '**मद्‌गतेनान्तरात्मना**' में भक्तका मन भगवान्‌में लगा है और '**श्रद्धावान्**' में उसकी बुद्धि भगवान्‌में लगी है। अतः भगवान्‌में गाढ़ आत्मीयता होनेसे ऐसा भक्त भगवान्‌में ही स्थित है।

कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, हठयोगी, लययोगी, राजयोगी आदि जितने भी योगी हो सकते हैं, उन सब योगियोंमें भगवान्‌का भक्त सर्वश्रेष्ठ है। अपने भक्तके विषयमें ऐसी बात भगवान्‌ने और जगह भी कही है; जैसे— '**ते मे युक्ततमा मताः**' (१२। २), '**भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः**' (१२। २०), '**स योगी परमो मतः**' (६। ३२)।

परमात्मप्राप्तिके सभी साधनोंमें भक्ति मुख्य है। इतना ही नहीं सभी साधनोंका अन्त भक्तिमें ही होता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि तो साधन हैं, पर भक्ति साध्य है। भक्ति इतनी व्यापक है कि वह प्रत्येक साधनके आदिमें भी है और अन्तमें भी है। भक्ति प्रत्येक साधनके आरम्भमें पारमार्थिक आकर्षणके रूपमें रहती है; क्योंकि परमात्मामें आकर्षण हुए बिना कोई मनुष्य साधनमें लग ही नहीं सकता। साधनके अन्तमें भक्ति प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमके रूपमें रहती है—'**मद्भक्तिं लभते पराम्**' (गीता १८। ५४)। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें अन्य सब धर्मोंकी अपेक्षा भगवद्भक्ति-विषयक धर्मको श्रेष्ठ बताया गया है—'**अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च**' (३। ४। ३९)।

प्रस्तुत श्लोकसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण समग्र हैं और उनकी भक्ति अलौकिक है! उस भक्तिकी प्राप्तिमें ही मानवजीवनकी पूर्णता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

ऑपरेटर-सेटिंग : रवीश शुक्ल
फोल्डर : रवीश शुक्ल, फाईल : साधक-संजीवनी-६
प्रिन्ट : रवीश शुक्ल
पुस्तकका नाम : साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)
प्रूफ कापी : पहला
पढ़नेवालेका स्पष्ट हस्ताक्षर/दिनांक...